एमील दुर्खैम - बिन भगवान की नैतिक शिक्षा

अमन मदान

अक्सर यह माना जाता है कि नैतिकता और नैतिक शिक्षा तो सिर्फ धर्म और धार्मिक ग्रन्थों से ही उपज सकती हैं। मगर यह सच नहीं है। नैतिक शिक्षा कई तरह की हो सकती है, उसकी विभिन्न शैलियों में मतभेद भी हो सकता है। नैतिक शिक्षा का एक स्रोत ऐसा भी है जिसका ईश्वर और धर्म से कोई संबंध नहीं रहता। इसकी एक बहुत ही खूबसूरत मिसाल हमें फ्रांसिसी समाजशास्त्री और शिक्षाविद एमील दुर्खैम के काम में मिलती है।

ह्यूमनिज़्म अथवा मानववाद

बिना ईश्वर और धार्मिक मान्यताओं की नैतिकता का भारत में सबसे मशहूर उदाहरण लोकायत परंपरा का है। मगर लोकायत परंपरा धीरे-धीरे लुप्त हो गई और आज हम उसके बारे में ज़्यादा नहीं जानते। आजकल इस तरह के नैतिक विचारों और व्यवहारों को मानववाद (Humanism) के नाम से जाना जाता है। इनका एक उद्‌गम पश्चिमी यूरोप में 18वीं शताब्दी में हुए विचारों की क्रान्ति में भी है, जिसे हम यूरोपीय नवजागरण के नाम से पहचानते हैं। इसका एक मूल सिद्धांत था कि हर विषय को परलोकिक या आलौकिक प्रक्रियाओं के बजाय इसी दुनिया की प्रक्रियाओं से समझा जाए। इस तरह के मानववाद की झलक हमें साहित्य और विज्ञान के विकास में भी दिखती है। इसके तहत लोगों की समस्याओं को ईश्वर की मरज़ी के बजाय इंसानी रिश्तों और प्रकृति जैसी बातों से समझा जाने लगा। जैसे शेक्सपीयर के नाटकों का आधार ईश्वर की लीला न हो कर, मानवीय काम, क्रोध, ईर्ष्या और उदारता है। यह मानवीय प्रक्रियाओं पर आधारित सोचने की परम्परा विश्व के कई और हिस्सों में भी देखी जा सकती थी। इब्न ख़लदून ने 14वीं शताब्दी में खेतीहर इलाकों पर कबीलाई आक्रमण को अल्लाह के प्रकोप की जगह कबीलों की राजनीति में भाईचारे और आपसी होड़ का परिणाम माना।

भारत में अंग्रेजों के आने के बाद इस तरह की सोच को एक नया जोश मिला। उनकी संस्कृति, राजनैतिक संस्थाओं, इत्यादि को देखकर कई लोगों के विचारों में उथल-पुथल हुई। चाहे विवेकानन्द हों या राजाराम मोहन राय, उन्हें अपने आस-पास की समस्याओं से जूझने के लिए धार्मिक सिद्धांतों के साथ-साथ मानवीय प्रक्रियाओं पर भी सोचना विचारना पड़ा। अल्लामा इक़बाल का बहुत मशहूर शेर हैः

ख़ुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तकदीर से पहले
ख़ुदा बंदे से ख़ुद पूछे, बता तेरी रज़ा क्या है।

इसमें यह सोच साफ़ दिखती है कि मानव अपनी हकीकत, अपनी तकदीर खुद बनाए। उसके हालात, कामयाबियों और नाकामयाबियों पर भगवान का नहीं उसी का बस है। ऐसी सोच से जो नैतिकता निकलती है वह भगवान की मरज़ी पर आधारित नहीं होती है। उसका तर्क या वितर्क मानवीय प्रक्रियाओं पर ही आधारित होता है।

मानववाद पर आधारित समाजशास्त्र

एमील दुर्खैम (1858-1917) का इस तरह के मानववाद पर आधारित समाजशास्त्र को स्थापित करने में बहुत बड़ा योगदान है। समाज की प्रक्रियाओं द्वारा इंसानी सोच ओर भावनाओं को समझना शुरू हुआ। और दुर्खैम के समाजशास्त्र में नैतिकता का आधार ईश्वर की कल्पना की जगह पर सामाजिक प्रक्रियाओं को बनाया गया। शिक्षा में इस तरह की नैतिकता को कैसे लाया जाए इसमें उनकी गहरी रुचि थी। शैक्षणिक मसलों से दुर्खैम का संबंध उनकी सारी जिन्दगी चलता रहा। उनकी पहली नियुक्ति एक सीनियर सैकेन्डरी स्कूल में बतौर शिक्षक हुई थी। उसके बाद वे बौरदोस में समाजशास्त्र और शिक्षाशास्त्र के प्रोफेसर बन कर गए। और फिर सौर्बोन में वे शिक्षा के विज्ञान के प्रोफेसर का ओहदा लेकर गए, जिसे बाद में बदलकर शिक्षा एवं समाजशास्त्र के विज्ञान का प्रोफ़ेसर कर दिया गया।

समाजशास्त्रीय नजरिए में धर्म और धार्मिक मान्यताओं और गतिविधियों का आधार ईश्वर न हो कर मनुष्य ही है। जब मनुष्य ने अपने आप को इस दुनिया की समस्याओं और विडंबनाओं से घिरा पाया तो धर्म की रचना कर उनका उसने जवाब ढूंढ़ने की कोशिश की। हमारे जीवन का आखरी अर्थ क्या है और फिर मौत का क्या मतलब है? अलग अलग धर्मों ने ऐसे सवालों को देखने का तरीका दिया जिससे इंसानों को मकसद मिला और आशा भी। उन्होंने लोगों को आपस में जोड़ कर रखा और सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने में मदद की। महत्वपूर्ण बात यह है कि दुर्खैम के अनुसार, इन धर्मों का निर्माण ईश्वर ने नहीं, मानव समाज ने खुद किया। धर्म के नाम से समाज ही अपने आपको नियंत्रित और संचालित करने के लिए तरीके ईजाद कर रहा था।

मगर आधुनिक दौर में, दुर्खैम कहते हैं, कुछ मूल परिवर्तन हो रहे हैं। इनमें से सबसे बड़ा है औद्योगीकरण, जिसके चलते समाज बहुत बड़े हो रहे हैं और उनमें कई तरह के लोगों को अब साथ में भी रहना पड़ रहा है। जहां किसी ज़माने में सब कुछ एक छोटे से समूह में ही हो जाता था, अब करोड़ों लोग एक-दूसरे पर इतने निर्भर हैं कि दुनिया के किसी एक कोने में हलचल होती है तो उसके कारण दूसरा कोना भी हिल जाता है। एक नई जटिलता से भरा समाज बन गया है, जिसमें अलग-अलग किस्म के लोगों को एक-दूसरे के साथ रहना सीखना पड़ रहा है। ऐसे समाज में व्यक्तिवाद (individualism) बढ़ा भी है और वही जरूरी भी है। इतनी मुश्किल और चुनौती भरी औद्योगिक जिन्दगी में लोगों को लगातार सोचने और नई-नई समस्याओं के हल ढूंढ़ने की जरूरत पड़ती है। इसमें समाज से मिली बातों को बिना सोचे-समझे और अपनी परिस्थितियों के साथ जोड़ कर देखे बिना वैसे ही काम में नहीं लिया जा सकता और अगर नवाचार करना है तो व्यक्ति को स्वत्व को तो बढ़ाना ही पड़ेगा। उसे इस बात से नहीं डरना होगा कि लोग क्या कहेंगे। उसे वह करना होगा जो कि उसे खुद को सही लगता है।

तर्क आधारित ना कि धर्म आधारित नैतिक शिक्षा

इस मौजूदा बड़ी जल्दी से बदलते दौर में जब पुराने तरीके अब काम नहीं कर रहे हैं, तब इसमें तार्किकता और विवेक का महत्व और भी बढ़ जाता है। इसमें जरूरी है कि नैतिकता और नैतिक शिक्षा को तर्क के इस्तेमाल से तैयार किया जाए। कभी-कभी यह कहा जाता है कि संस्कृति और नैतिकता तो तार्किक वस्तुएं हैं ही नहीं, वे भावनाओं, रस, सौंदर्य, रीतियों जैसी चीजों से बनी होती हैं। दुर्खैम संस्कृति और धर्म में इन बातों की मौजूदगी को स्वीकारते हैं, मगर कहते हैं कि इसका यह मतलब नहीं कि इन पर तर्क का प्रयोग नहीं किया जा सकता। हम यह पूछ सकते हैं कि क्रोध जैसी भावना लाभदायक है या हानिकारक। और अगर लाभदायक, तो क्या हर परिस्थिति में? इस सवाल का जवाब तय कर सकता है कि हमारी नैतिक शिक्षा में क्रोध और उसके नियंत्रण का क्या स्थान है। समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, इत्यादि नैतिक शिक्षा के आधार बन सकते हैं। ऐसी नैतिक शिक्षा का आधार अब धार्मिक मान्यताएं न हो कर तार्किक प्रक्रियाएं और मानववाद हो जाता है।

ऐसा नहीं है कि धार्मिक मान्यताओं में तर्क बिल्कुल नहीं होता। लेकिन उसके ऊपर उस समय की धार्मिक और अन्य परिकल्पनाओं की कई परतें चढ़ी होती हैं, जो उसे पूरी तरह से अभिव्यक्त नहीं होने देती। उदाहरण के लिए, सति

प्रथा के पीछे असल में मकसद शादी के संबंधों को मजबूत और सुदृढ़ करना हो सकता है। मगर उसके साथ-साथ यह मान्यताएं भी हो सकती हैं कि बिना पुरुष के स्त्री का कोई महत्व नहीं है और कि मरने के बाद फिर से दंपत्ति का पुनर्जन्म होना स्वाभाविक है, इत्यादि। जब तर्क और सामाजिक सोच इन दूसरी बातों से बचकर विचार करता है तो हो सकता है कि वह पति और पत्नी के प्रेम को सुदृढ़ करने के लिए बिल्कुल अलग किस्म की रिवायत की तरफ़ बढ़े। उस पर आधारित नैतिक शिक्षा सती प्रथा के गुण-गान से अपने-आपको दूर करके, कुछ और ही कहेगी।

दुर्खैम का मानना है कि लगातार धार्मिक मान्याताओं में भी विकास होता रहा है। उनमें तर्क और बदलते समाज के ज्ञान का असर हो रहा है। और बहुत सारे रिवाजों और मान्यताओं पर पुनर्विचार हो रहा है। मगर, वे कहते हैं, क्योंकि समाज और उसकी जरूरतों को सब से अहम न मानते हुये धार्मिक विचारों को अहमियत दी जाती है, उस से उभरने वाली नैतिकता उतनी सटीक और सही सिद्धांतों वाली नहीं हो पाती। ज्यादा अच्छा है कि पुरानी मान्याताओं और मिथकों के बजाय मानव की परिस्थितियों को सीधे-सीधे सामने रख कर नैतिक शिक्षा की रचना की जाए।

नैतिक शिक्षा में क्या पढ़ाया जाए

तो आखिर नैतिक शिक्षा में पढ़ाया क्या जाए, उसके पाठ्यक्रम के मुख्य बिन्दु क्या हों? दुर्खैम का कहना था कि नैतिक शिक्षा में चाहे और जो भी पढ़ायें, सिर्फ एक ही धर्म की मान्यताओं को तो नहीं ही पढ़ाया जाना चाहिए। इसके पीछे उनका तर्क उनके अपने देश, फ्रांस के हालात के आकलन पर आधारित था। वहां कई चर्च थे जो आपस में भिड़े रहते थे। अगर इसाई धर्म पढ़ाते तो फिर पहला सवाल तो यही था कि कौनसे चर्च का विवरण पढ़ाते, उनके तो आपस में कई मतभेद थे। किसी एक को अगर चुनते, चाहे वह बहुलता वाला ही क्यों न हो, तो बाकी उसके विरूद्ध ही होते। तर्क आधारित शिक्षा का एक गुण यह था कि उस पर चर्चा और बहस की जा सकती थी, वह आस्था पर आधारित नहीं थी।

दुर्खैम यह भी कहते थे कि सभी देशों और लोगों के लिए एक ही समान किस्म की नैतिक शिक्षा नहीं हो सकती थी। उसे वहां की परिस्थितियों के अनुकूल ही तैयार करना पड़ता है और हर जगह की परिस्थिति में कुछ न कुछ फर्क होता ही है। मगर फिर भी, कुछ ऐसी बातें थी जो कि करीब करीब हर जगह महत्वपूर्ण होती हैं। यह वे सांस्कृतिक बातें हैं, जिनके बिना मानव समाज तो संभव ही नहीं है। दुर्खैम का कहना था इनमें से तीन निम्नलिखित थींः

(1) अनुशासन - जिसका अर्थ उनके लिए था आत्म-नियंत्रण, न कि बाहर से रोक-थाम होना। आत्म-नियंत्रण से व्यक्ति को कुछ विशेष क्रियाओं और मूल्यों पर स्थिर रहना सीखना जरूरी था। इसके लिए अपनी कुछ इच्छाओं को रोकना या दबाना सीखना भी जरूरी था। अगर कोई भी अपनी किसी भी इच्छा को रोक न पाता, तो सामाजिक जीवन असंभव हो जाता। लोगों में अनुशासन होने पर ही समाज में कुछ क्रम और तरतीब मुमकिन होता है।

(2) समूह का हिस्सा बनना - आत्म-नियंत्रण आखिर व्यक्ति में कहां से आता है? हम अपने आप को चाहे जितना भी तार्किक मानें, हमारी किसी भी विचार के प्रति प्रतिबद्धता और दृढ़ता, सिर्फ विचारों से नहीं आती। उसके लिए एक समूह का होना जो कि हमें हौसला दे बहुत जरूरी है। हमारी सोच मूल रूप से सांस्कृतिक होती है। उसके लिए एक समूह की भावनाओं, मान्यताओं और संकल्पों का होना भी ज़रूरी है। बच्चों या बड़ों के नैतिक विकास में एक समूह का हिस्सा बनना एक अहम भूमिका रखता है।

(3) स्वायत्तता - जिससे दुर्खैम का मतलब था बिना बाहरी दबाव में आए, खुद से सोच पाना। जहां अनुशासन व्यवस्थाओं को बनाए रखने के लिए जरूरी होता है, नवाचार के लिए आज़ाद ख्याल होना भी जरूरी है। जब व्यक्ति नई बातें सोच सकता है या उस की कल्पना में ऐसी बातें आती हैं जो पहले से मौजूद नहीं, तभी नई समस्याओं के नए हल ढूंढे जा सकते हैं। इसका अलग-अलग समाज में अलग स्थान हो सकता है। एक समाज हो सकता है जिस में कोई नए परिवर्तन हो ही नहीं रहे और पुरानी तौर तरीकों की धारा वैसे के वैसे ही बही जा रही है। अगर लोग

ऐसे में खुश हैं तो इसमें नवाचार की आवश्यकता ज्यादा नहीं है। मगर दुर्खेम का कहना था कि जिन समाजों में औद्योगीकरण हो गया है, वहां परिवर्तन लगातार होता रहता है। समाज के एक पहलू में परिवर्तन, जैसे कि टेकनॉलोजी में, समाज के दूसरे पहलूओं पर असर डालता है, जैसे कि परिवार और संस्कृति पर। और फिर इनमें परिवर्तन समाज के दूसरे हिस्सों को प्रभावित करता है। और यह सिलसिला आज कल लगातार बढ़ता चला जाता है। ऐसे हालात में नैतिक शिक्षा में स्वायत्तता या नवाचार की भावना का सक्रिय होना बहुत जरूरी हो जाता है।

आज के दौर में नैतिक शिक्षा

कुछ लोगों का तेजी से बदलते समाज को देखकर यह कहना है कि अब नैतिकता की कोई जरूरत ही नहीं। वे कहते हैं कि पैसों का लेनदेन और बाजार के समझौतों ने मूल्यों और सांस्कृतिक सोच सभी को पीछे छोड़ दिया है। अब नैतिकता निरर्थक हो गई है और सिर्फ स्वार्थ और सत्ता ही हैं जो कि आज के दौर की प्रक्रियाओं को चलाये रख सकती हैं। लोगों से नैतिक बातें करने का कोई मतलब नहीं है, वे सिर्फ प्रलोभन या डंडे की भाषा समझ सकते हैं। दुर्खेम का कहना है कि न तो समाज ऐसे वास्तव में चल रहा है और न ही चल सकता है। आज भी हमारी जिन्दगी में संस्कृति और नैतिकता मौजूद हैं और वही हमारे कर्मों को नियंत्रित करती हैं। हम उसे पहचानते नहीं, मगर वही बाजार को संचालित करती है और सरकारों को भी चलाती है। अगर नैतिकता न हो तो हम कब से ढेर हो गए होते। सवाल तो यह है कि हमारी नैतिकता क्या है और कितनी सी सही या हालात के अनुकूल है। क्या बाजार की नैतिकता हमें स्वीकार है? यदि नहीं, तो क्यों नहीं, यदि हां तो फिर भी क्यों। चाहे हम अंत में जिस भी नैतिकता को सही मानें, दुर्खेम का मत है कि उसे शिक्षा का हिस्सा बनाना बहुत आवश्यक है।

कुछ लोगों को दुर्खेम की कुछ विशेष बातों पर इतराज भी हो सकता है। वे यह भी कह सकते हैं कि बाजार अच्छे होते हैं और हमें नैतिक शिक्षा द्वारा उन्हीं को बढ़ाना चाहिए, दुर्खेम की तरह स्वायत्तता और अनुशासन को नहीं बढ़ाना चाहिए। या कुछ कह सकते हैं कि दुर्खेम ने आधुनिक पितृसत्ता की नैतिकता का विरोध क्यों नहीं किया, इत्यादि। मगर उनके तीन मौलिक नैतिक शिक्षा के सिद्धांतों को नकारना मुश्किल है। वे अब भी सामाजिक जीवन के लिए अनिवार्य लगते हैं। हां उनमें हम और बातें जरूर ज़ोड़ सकते हैं।

यह हो सकता है कि हम दुर्खेम की कुछ बातों से असहमत हों। मगर उनकी सबसे अहम बात यह है कि उन्होंने नैतिकता और नैतिक शिक्षा को ईश्वर की परिकल्पना को सामने रख कर नहीं बल्कि समाज की आवश्यकताओं और समस्याओं को नजर में रख कर परिभाषित किया। इस तरह की नैतिकता की सोच में बहुत वजन है। ◆

लेखक परिचयः जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से एमफिल एवं पीएचडी करने के बाद एकलव्य, हौशंगाबाद के साथ लगभग 3 वर्ष तक कार्य किया। इसके उपरान्त आईआईटी, कानपुर में समाजशास्त्र का अध्यापन किया। वर्तमान में अजीम प्रेमजी यूनीवर्सिटी, बैंगलोर में समाजशास्त्र के प्रोफेसर हैं।

दुर्खेम के बारे में आगे पढ़ने के लिएः

Durkheim, E. (1956). Education and Sociology. Glencoe: The Free Press.

Durkheim, E. (1961). Moral Education: A study in the theory and application of the sociology of education. (E. K. Wilson & H. Schnurer, Trans.). New York and London: The Free Press and Collier-Macmillan.

Durkheim, E. (1977). The Evolution of Educational Thought: Lectures on the formation and development of secondary education in France. (P. Collins, Trans.). London: Routledge & Kegan Paul.

Madan, A. (2010). Emile Durkheim on moral education. Contemporary Education Dialogue, 7(2), 225-248.